



भारत नीति प्रतिष्ठान
India Policy Foundation (IPF)

**समान नागरिक संहिता
एकता की दिशा में
अनिवार्य कदम है**

आरिफ मोहम्मद खान

यह प्रपत्र श्री आरिफ मोहम्मद खान द्वारा दिए गए भाषण पर आधारित है।

सामयिक प्रपत्र – 04 / 2014

सम्पादन

विनय कुमार गुप्ता

एवं

जगन्निवास अय्यर

विषय परिचय

हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय ने सन्ततियों को दत्तक देने को लेकर एक महत्वपूर्ण निर्णय सुनाया है। इस निर्णय के अनुसार हिन्दू धर्मावलम्बियों के अलावा अन्य मजहबों के अनुयायी भी बच्चों को गोद ले सकते हैं। सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय को इतिहासिक माना जा रहा है और साथ ही समान नागरिक संहिता की दिशा में इसे एक महत्वपूर्ण कदम के रूप में देखा जा रहा है। ध्यातव्य है कि समान नागरिक संहिता की स्थापना हमारे देश के संविधान के राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्तों में प्रतिष्ठित है। गोद लेने का अधिकार, जो अब तक हिन्दुओं, बौद्धों और जैनो तक सीमित था, अब मुलसमानों, ईसाइयों, यहूदियों और पारसियों को भी प्राप्त होगा। सर्वोच्च न्यायालय के इस ऐतिहासिक निर्णय के अनुसार कोई भी व्यक्ति किशोर न्याय (बालकों की देखरेख व संरक्षण) अधिनियम 2000 के तहत बच्चों को गोद ले सकता है, चाहे उसका मजहब जो हो और उसके मजहब के व्यक्तिगत कानून इस बात की अनुमति न दें।

आश्चर्य की बात नहीं है कि सर्वोच्च न्यायालय के इस महत्वपूर्ण निर्णय ने मुस्लिम समुदाय के कट्टर लोगों की नाराजगी को न्यौता दिया है। ऑल इण्डिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड ने इस फैसले को पिछले दरवाजे से मुस्लिम कौम पर समान नागरिक संहिता थोपने की कोशिश बताकर इसका विरोध करना शुरू कर दिया है। इसी पृष्ठभूमि को ध्यान में रख भारत नीति प्रतिष्ठान ने इस विषय पर श्री आरिफ मोहम्मद खान के विचारों को इस प्रपत्र के माध्यम से प्रस्तुत किया है। ज्ञातव्य है कि आरिफ मोहम्मद खान उदार मुस्लिम विचारकों में से हैं। समान नागरिक संहिता की स्थापना किसी भी समानता-युक्त सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का अभिन्न अंग है और यह प्रपत्र उस दिशा में प्रयत्न हेतु भारत नीति प्रतिष्ठान का हस्तक्षेप है।

प्रो. राकेश सिन्हा जी मेरे एक अच्छे मित्र और शुभचिन्तक हैं, इसलिए इस विषय पर बोलने के उनके आग्रह की अनदेखी नहीं कर पाया। यह एक ऐसा मुद्दा है जो हमारे राष्ट्रीय व सामाजिक जीवन को कई तरह से प्रभावित कर रहा है और जिसे लेकर मैंने केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद तक से इस्तीफा दे दिया था। मेरा मानना है कि यह संकट 1986 से शुरू हुआ था। खेद की बात है कि हम शायद उसकी गम्भीरता को आज भी नहीं समझ पा रहे हैं।

आज हम यूनिफॉर्म सिविल कोड की बात कर रहे हैं। शाहबानो मामले में नॉन यूनिफॉर्म क्रिमिनल कानून की बुनियाद रखी गई। जिस प्रावधान के तहत शाहबानो के मामले में फैसला किया गया था, वह सिविल कोड का हिस्सा नहीं था। वह तो क्रिमिनल प्रोसिजर कोड का हिस्सा था। हमने पहले एक सिद्धान्त स्वीकार किया था कि पर्सनल लॉ अलग-अलग हो सकते हैं पर क्रिमिनल कानून एक होगा। इस मामले के बाद हमने अलग-अलग क्रिमिनल कानून की भी बुनियाद रख दी।

हम यूनिफॉर्म सिविल कोड की बात कर रहे हैं। सीआरपीसी की धारा 125 सामाजिक व्यर्थता और विपन्नता को रोकने के लिए है। वह न पर्सनल लॉ का हिस्सा है और न सिविल लॉ यानि नागरिक कानून का हिस्सा है। वह क्रिमिनल लॉ यानि आपराधिक कानून का हिस्सा है। उसका प्रावधान इसलिए किया गया है ताकि समरी प्रोसीडिंग यानि त्वरित सुनवाईयों की सुविधा हो और राहत के लिए लम्बा वक्त न लगे। असल में यह प्रावधान सामाजिक न्याय के सिद्धान्त पर आधारित है।

यह बात साफ हो जानी चाहिए कि जो अपने शरीरों और आत्माओं को एक रखने के लिए निरन्तर संघर्ष कर रहे हैं उनसे कानूनी बारीकियों को समझने और उनके अनुसार चलने की उम्मीद नहीं की जा सकती। यह जीवन की सच्चाई है। मजहबी कानूनो ने भी इस सच्चाई का जायजा लिया है। जिसके पास दो वक्त खाने का जरिया नहीं है, वह व्यक्ति कुछ पाने के लिए मौत का इंतजार नहीं करेगा। मिसाल के तौर पर इस्लाम तीन दिन के भूखे आदमी को इस बात की इजाजत देता है कि वह हराम खाना खा ले। कानून में भी एक पुराना प्रावधान 488 था। दरअसल यह अंग्रेजों का 1860 में बनाया गया कानून था। इस कानून के तहत अगर मां-बाप, नाबालिग भाई-बहन, पत्नी, औलाद में से कोई भी खुद की देखरेख करने की स्थिति में नहीं है, तो उस व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह सीआरपीसी के प्रावधान 488 के तहत अदालत में दरखास्त करें। और जहां तक मुझे सही याद है, 1971 में जब 50 रुपये का संशोधन किया गया जिसके लिए एक विशेष समिति बनाई गई। यह समिति इस निष्कर्ष पर पहुंची कि मां-बाप, भाई-बहन के मामले में तो ठीक है लेकिन पत्नी को छोड़ देने का मतलब तलाक नहीं है। इसे ध्यान में रखा जाना चाहिये। यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिये कि पति के द्वारा छोड़े जाने के बाद पत्नी के पास गुजारे के लिए शायद कुछ भी ना बचे। यह किसी एक मजहब के लिए नहीं बल्कि सभी के लिए सच है।

पति तलाक की प्रक्रिया शुरू कर सकता है लेकिन इस मामले में मुस्लिम मर्द के लिए मामला बड़ा आसान है। बस तीन बार 'तलाक' कह दिया और बाद में अपनी सुविधा की तारीख में ऐलान कर दिया की मैंने अपनी बीवी को तलाक दे दिया है। यहां बीवी को छोड़ देने का मतलब यहां तलाक नहीं है। यह ध्यान रखिए कि वह तारीख भी अपनी सुविधा के अनुसार चुनता है। तारीख तब की होती है जब उसकी पत्नी गुजारा पाने के लिए अदालत गई हो लेकिन उसका शाब्दिक तलाक अमल में नहीं हुआ हो। कानून देखें तो यह शरारत ही है और इसी तरह की शरारतों से निपटने के लिए नए कानूनों की जरूरत पड़ती है।

विशेष समिति की राय थी कि जहां हिन्दू पुरुष को तलाक की पूरी प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है, वहीं मुसलमान मर्द तीन बार तलाक बोलकर अपनी बीवी से छुटकारा पा सकता है। तलाकशुदा बीवी को गुजारा न देने का उसका बहाना यह होता है कि जिस दिन वह गुजारे के लिए अदालत में दाखिल हुई थी, उस दिन तक उसने अपने मजहबी कानून के मुताबिक बीवी को तलाक नहीं दी थी। लिहाजा उसके खिलाफ दायर गुजारे की अर्जी को खारिज किया जाए। इसी तरह की शरारत को रोकने के लिए विशेष समिति ने

कहा कि पत्नी की परिभाषा में तलाकशुदा पत्नी को भी शामिल किया जाना चाहिए ताकि बिलकुल ही सड़क पर आ चुकी औरतों के लिए गुजारे का कुछ तो जरिया हो। लेकिन महिलाओं के अधिकार का मामला यहां खत्म नहीं हुआ।

देखा जाए तो हर विपन्न व्यक्ति की जिम्मेदारी सरकार की होनी चाहिए। किसी भी सच्चे कल्याणकारी राज्य में ऐसा ही होना चाहिए। लेकिन मैं मानता हूँ कि हमारे यहां संसाधनों की कमी है और इसलिए हम नागरिकों के प्रति अपनी बुनियादी जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिए इधर-उधर के रास्ते ढूँढते रहते हैं। जब मजहब के आधार पर विरोध जताया गया, तब सर्वोच्च न्यायालय ने कुरान की आयतों का हवाला दिया, जिसमें यह कहा गया है: “उन्हें (पत्नियों को) घर से न निकालें क्योंकि अल्लाह शायद आप दोनों को फिर से एक करने का रास्ता पैदा कर दें।” गुस्से में किये गये फैसलों पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए। कुरान में यह भी कहा गया है कि अगर दो शादीशुदा दम्पति अलग होने का फैसला करें तो भी उन्हें एक छत के नीचे तीन महीने तक रहना चाहिए। इसके बाद भी उन्होंने अलग होने का ही फैसला किया तो यह साबित हो जाएगा कि उनके बीच दूरियां सचमुच हैं। लेकिन इस अवधि के दौरान यदि उनमें शारीरिक सम्बन्ध कायम होता है तो तलाक का असर खत्म हुआ माना जाएगा और वह फिर से निकाह कर सकते हैं। इस्लामी कानून के तहत ऐसा दो बार हो सकता है। तलाक भी दो बार हो सकता है। लेकिन कई हिमायतियों का दावा है कि वह तीन बार तलाक बोलकर छुटकारा पा सकते हैं।

मैंने अपनी किताब में इस बात को उजागर करने की कोशिश की है कि इस्लामी कानून के नाम पर जो चल रहा है, वह कुरान की बुनियादी बात का साफ-साफ विरोध करता है। लिहाजा मुझे दो बातों को लेकर खास चिन्ता है। समान नागरिक संहिता अभी काफी दूर है। तो क्या हम बुनियादी सामाजिक न्याय से भी लोगों को सिर्फ इसलिए वंचित रखेंगे कि कुछ मुल्ले ‘इस्लाम खतरे में है’ का नारा लगा रहे हैं? क्या अब हम सबके लिए अलग-अलग क्रिमिनल कानून भी बनाने जा रहे हैं? मेरे विचार में इस मामले की गम्भीरता स्वयं नागरिक संहिता के मुद्दे से भी कहीं ज्यादा है। जिस देश में इतनी विविधता हो, वहां इस बात का महत्व नहीं कि शादी-ब्याह में कौन किस तरह की रीत-रिवाजों का पालन कर रहा हो। इसमें हमारी निजी पसंद चल सकती है लेकिन जिन मामलों का समाज पर असर पड़ता हो उसमें सरकार को हस्तक्षेप करने का अधिकार है। कुरान कहता है कि हर औरत को गुजारे का अधिकार है। मैंने भी इस बात को कई बार दोहराया है, जिससे इस्लामी आलिमों में काफी नाराजगी फैली है। मैं पर्सनल लॉ बोर्ड अथवा निजी कानूनों के वजूद पर प्रश्नचिन्ह नहीं लगा रहा हूँ लेकिन कुरान की इन आयतों का अस्तित्व भी कोई झुठला नहीं सकता।

कुरान में तलाक को लेकर एक पूरा अध्याय है और सात आयतें हैं। कुरान में यकीन रखने वालों को यह पता होना चाहिए कि उन्हें इन्हीं प्रावधानों के जरिए तलाक हासिल हो सकता है। मैं तो यहां तक कहूंगा कि आपसी सुलह की गुजांश की इस मियाद का इन्तजाम कुरान ने आज से 1,400 साल पहले किया था। फर्क सिर्फ इतना है कि आज के आधुनिक कानून जहां 9 से 10 महीनों की मियाद देते हैं वहीं कुरान ने तीन महीने की बात कही है। मेरा मानना है कि अगर हम सिर्फ इसी बात का पालन करें, तो भी सामाजिक सम्बन्ध काफी बेहतर हो सकते हैं। नहीं तो इस देश को सचमुच समान नागरिक संहिता की जरूरत है।

मैं नहीं मानता हूँ कि समान नागरिक संहिता के आने से मजहबी विश्वासों को धक्का लगेगा। मुसलमान यूरोप और अमेरिका जैसे देशों में भी रहते हैं जहां उनके निजी कानून तो बिलकुल नहीं चलते। यहां तक की अलग-अलग अरब देशों के निजी कानून भी अलग-अलग हैं। मजहब के ठेकेदारों का इसे लेकर क्या कहना है? इस्लाम में भी कानून के चार अलग-अलग केन्द्र हैं – सुन्नी, हनाफी, शाफई और शिया।

अंग्रेजों ने मजहब के मामलों में कम से कम हस्तक्षेप किया लेकिन राज्य और प्रशासन का पूरा अधिकार अपने पास ही रखा। पाकिस्तान की मिसाल भी यहां देना चाहूंगा क्योंकि वह प्रासंगिक है। वहां का क्रिमिनल कानून भी कुछ-कुछ हमारी तरह ही हैं। 1947 से पहले के वहां के कानून मजहबी तो कहलाते थे लेकिन जैसे कोई खास इस्लामी नहीं थे। फिर अयूब खान की हुकूमत के दौरान एक समिति बनी जिसकी सिफारिशों को लागू किया गया। कानून बनाने के पीछे अंग्रेजों का एक खास मकसद था। वे इस मुल्क के लोगों को यह जताना चाहते थे कि आप लोग जातियों के समूह हो लेकिन सच्चे मायने में राष्ट्र नहीं। इसलिए अपने जातीय मामलों में उलझे रहो क्योंकि प्रशासन तो हम ही चला सकते हैं। तबके ब्रिटिश गृह सचिव ने यहां तक कहा था कि एकता पैदा करने वाले कानून हम लागू करें तो ब्रिटिश राज के लिए यह राजनीतिक दृष्टि से नुकसानदेय होगा। अच्छा यही है कि स्थानीय लोग अपने स्थानीय मुद्दों में उलझे रहें और हमें भी ऐसी ही नीतियां बनानी चाहिए। ब्रिटिश सोच उनके उद्देश्य के अनुसार ही था।

लेकिन हमारा संविधान साफ तौर पर कहता है कि 'राज्य भारतवर्ष के सम्पूर्ण भूभाग पर उसके नागरिकों के लिए समान नागरिक संहिता की स्थापना हेतु प्रयत्न करेगा'। यहां पर 'प्रयत्न' शब्द पर विशेष बल दिया गया है।

मैं पूछना चाहता हूं कि इस दिशा में हमारे प्रयास क्या रहें हैं? शाहबानों मामले में मुझे याद है कि तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने मेरे रुख की काफी सराहना की। उन दिनों ऐसे अफवाह चल रहे थे कि उलेमा के दबाव में आकर राजीव जी शायद अपने रुख से पलट जाएं। शुरु में तो सब ठीक था और राजीव गांधी मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड को कुछ भी रियायत देने के खिलाफ थे लेकिन एक महीने के भीतर ही उन्हें इस मुद्दे पर पलटना पड़ा। जहां तक मेरा सवाल है मैंने बिना झुके शाहबानों मामले पर सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय का बचाव किया, जो केन्द्र सरकार उलेमा के दबाव में बदलने जा रही थी। नैतिक आधार पर मैंने मन्त्रिपद त्याग दिया और सरकार से भी इस्तीफा दिया। राकेश जी ने कहा है कि जिया-उर-रहमान अंसारी और मुझमें काफी झड़प हुई थी लेकिन यह मामले का सिर्फ एक पहलू है। जिया-उर-रहमान तो इस्तीफा देने की तैयारी कर रहे थे और उनकी जीवनी में इस बात का उल्लेख है कि सरकार को उलेमा के सामने झुकने पर मजबूर करने वाला असली व्यक्ति कौन था।

दूसरी व्यक्ति थी नजमा हेप्टुल्ला, जिनके घर पर सभी मिर्टिंगे हुआ करती थी। सरकार पर मुस्लिम कट्टरपंथियों की ओर से दबाव डालने वाली नजमा ही थी। मैंने लालकृष्ण आडवाणी जी से भी उनकी पुस्तक के विमोचन के बाद यह बात कही। आडवाणी जी ने शाहबानों मामले में जिया-उर-रहमान अंसारी को खलनायक बताया है जबकि असली खलनायक की भूमिका तो नजमा हेप्टुल्ला ने निभाया। मैंने आडवाणी जी को खरी-खोटी सुनाते हुए कहा कि ऐसे मामलों में तो राजनीतिक ईमानदारी बनाई रखना अनिवार्य है। सिर्फ इसलिए किसी कि पूर्व भूमिका अनदेखी करना कि वो आज हमारे साथ जुड़ गया हो, हद दर्जे की राजनीतिक बेईमानी है।

शाहबानों मामले में नजमा हेप्टुल्ला की भूमिका लेकर मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड के तब के चेयरमैन ने तारीफ का एक पूरा पन्ना लिख डाला। न्यायपालिका के फैसले को रद्दी की टोकरी में डालने को लेकर सबसे ज्यादा भूमिका तो नजमा जी ने निभाई। खेद की बात है कि देश में हमने एक ऐसी व्यवस्था को पनपने दिया है जहां निहित स्वार्थों का ही राज चल रहा है, कुर्सी पर चाहे जो बैठा हो।

हम किस तरह का उदाहरण देश के सामने प्रस्तुत कर रहें हैं? राजीव गांधी ने शाहबानों मामले पर सही रुख अपनाया है लेकिन बाद में तेजी से पलट गए। भाजपा ने शाहबानों को देश की राजनीति का एक बहुत बड़ा मुद्दा बनाया और बाद में उसी व्यक्ति का बड़ी गर्मजोशी से अपनी पार्टी में स्वागत भी कर दिया, जिसमें कठमुल्लों के सामने कांग्रेस को हथियार डालने पर मजबूर किया। क्या राजनीतिक चरित्र हो गया है हमारा? हम सार्वजनिक रूप से एक बात कहते हैं लेकिन अपने व्यवहार में उसका ठीक विपरीत आचरण करते हैं। मैं मानता हूं कि समस्याएं आती रहेंगी, लेकिन समस्याओं को लेकर जो असंवेदनशीलता है, वह मेरे लिए सचमुच चिन्ताजनक है। हमें यह सोचना पड़ेगा कि हमें क्यों बार-बार उन्हीं समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है।

जाने माने इतिहासकार बिपिन चन्द्रा ने एक बार मुझे अपने घर बुलाया था। आजादी के आंदोलन के इतिहास को लेकर एक प्रकल्प की तैयारी हम लोग कर रहे थे। इसके दौरान किए गए साक्षात्कारों में यह जानकारी सामने आई कि एक भी मुस्लिम स्वतन्त्रता सैनानी संसद या विधानसभाओं में चुनकर नहीं जा पाया। अधिक खोजबीन करने पर पता चला कि जो मुसलमान आजादी के लिए जेल गए वे अपने-अपने व्यवसायों में तो काफी आगे थे लेकिन उन्हें सामाजिक और राजनीतिक स्वीकृति नहीं मिल सकी स्वीकृति मिली तो तीसरे दर्जे के मुस्लिम लीगी नेताओं को जिनकी किसी काम में लायकी न के बराबर थी। ऐसा क्यों हुआ? गहराई से खोजबीन करने के बाद यह निष्कर्ष सामने आया कि आजादी की लड़ाई लड़ने वाले मुसलमान तो जेल गए जबकि मुस्लिम लीग के नेता मुस्लिम अवाम में ज्यादा लोकप्रिय होने लगे। मौलाना आजाद जैसे नेताओं को 'दिखावे का मुसलमान' बतलाकर उनका मजाक उड़ाया गया जबकि कट्टरपंथी मुसलमान मुस्लिमों का नेतृत्व हथियाने लगे।

आजादी और विभाजन के बाद भी यही कहानी दोहराई जाती रही है बहुत से मुसलमानों ने यहीं रहने का फैसला किया। आजादी के बाद मुस्लिम नेताओं में ऐसा वर्ग भी सामने आया जिसने दावा करना शुरू किया वह भी देश कि आजादी की लड़ाई में जेल काट चुका है। बस इसी बात का फायदा उठा कर वे चुने जाने लगे। विभाजन के कारण अपने आप को असुरक्षित महसूस कर रहे मुसलमानों का वोट हथियाने के लिए इन लीडरों ने कट्टरपंथ का रास्ता अपनाया। देश की राजनीतिक व्यवस्था ने भी मुस्लिमों का थोक वोट पाने के लिए इसी किस्म के मुस्लिम नेतृत्व को घास डालना शुरू किया। उदार और पंथनिरपेक्ष सोच रखने वाले मुस्लिम नेताओं को राजनीतिक प्रक्रिया में शामिल करना तो दूर, उन्हें चुनावी अभियानों से भी दूर रखा गया। जाहिर है ऐसे माहौल में आरिफ मोहम्मद खान जैसे लोगों के लिए कोई जगह नहीं है।

आज हमने पूरी तरह स्वार्थ को गले लगा रखा है संवेदनशीलता और उच्चतर उद्देश्यों से हम लोग मुंह मोड़ चुके हैं। लेकिन मेरा अब भी मानना है कि हमारा कर्तव्य कहीं ऊंचा है। समान नागरिक संहिता की स्थापना करना राष्ट्र के हित में है, ताकि नारियों का शोषण, (विशेषकर असहाय और विपन्न नारियों का) बंद हो सके। इसके लिए व्यापक शिक्षा पहला कदम है। समान नागरिक संहिता के अभाव में औरतों को 'इस्लाम खतरों में है' का झांसा देकर उन्हें शाब्दिक तलाक का शिकार बनाना आसान रहेगा। शिक्षा के साथ-साथ सामाजिक सुरक्षा और समरसता की भी जरूरत है। इस सब के लिए हमें काफी प्रयास करने होंगे। इस गम्भीर विषय को एक बार फिर सार्वजनिक बहस के दायरे में लाने के लिए मैं भारत नीति प्रतिष्ठान प्रो. राकेश सिन्हा जी का आभारी हूँ। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम इस मुद्दे को लेकर नई सोच और नए समाधानों की दिशा में अपने मस्तिष्क को प्रेरित करें, क्योंकि यह मुद्दा एक लम्बे अरसे से हमारे देश और समाज के लिए एक चुनौती बना हुआ है।

Realities Mirror Plural Khurshids and One Arif

Prof Rakesh Sinha

I'm not surprised at Salman Khurshid's use of the term "impotent" for political rivals. Khurshid epitomises the new political culture where contemptuous, abusive and unparliamentary language has become common. More shocking is his mindset which is obvious from his writings. In his book *At Home In India: A Restatement of Indian Muslims*, he writes, "(On the other hand) there was also a terrible satisfaction among Muslims, who had not completely forgotten Partition's unpleasant aftermath. Hindus and Sikhs were alike paying for their 'sins'. They were paying for the blood they had drawn in 1947." Indians would be grateful for enlightenment by Khurshid as to what 'sin' Hindus and Sikhs committed in 1947? The question which he himself has to answer is whether his views resemble people like Zakir Hussain and Maulana Azad or leaders of Khaksars and the Muslim League of pre-Partition days?

Tie and coat with an Oxford pedigree not necessarily make any English-speaking Muslim liberal or secular, just as a beard and cap don't negate it. Self-declared liberals, who have often times jettisoned their ideological moorings to stoke fundamentalism, are more dangerous than proclaimed fundamentalists, as they legitimise irrational demands, aspirations and ideology born of hostility, conspiracy theories and fear whipped up against imagined enemies. None other than Iqbal, a liberal scholar, and Jinnah, considered an ambassador of secularism, legitimised the Pakistan movement. There are umpteen examples even in post-independent India. For instance, Syed Shahabuddin, formerly a foreign service officer, abandoned his liberal mask and began professing communal demands after joining politics.

History is replete with examples when greed for power sabotages one's conscience. This can be seen in the case of Khurshid too. He had once great admiration for RSS. The Motherland, an RSS daily (now defunct), published Golwalkar's interview on August 23, 1972 in which he said that as long as personal laws do not pose any threat on unity, integrity and constitutional values, voice for progressive changes must emanate from the community itself. Apropos Golwalkar: "Nature abhors uniformity, which is the death-knell of nations. I'm all for the protection of various ways of life, but variety must supplement the nation's unity and not range itself against it." His exposition triggered an ideological debate. Describing Golwalkar as a statesman, he wrote (Motherland, August 25, 1972): "Frankly, I bow to Guru Golwalkar for the courage he has shown in expressing views which are more or less on similar lines as those of the late Dr Zakir Hussain."

Alas, 1970s' liberal Khurshid now feels his liberalism to be an albatross for his political career. His shift is more than obvious. He is a strong advocate of religion-based reservation. In 2010, he even favoured distributing enemy property, seized from traitors in 1947 and during Indo-Pak wars, among Muslim claimants. Its worth is at least Rs 1 lakh crore. The move to amend the Enemy Property Act was, however, thwarted by policy think-tanks. For Khurshid too, his liberalism was a short-term romanticism, and politics based on religious identity is a reality.

Ironically, another stellar example, Arif Mohammad Khan, a former president of AMU Students' Union and a minister in the Rajiv Gandhi government, took a principled stand on the Shah Bano issue, much to the ire of Muslim fundamentalists, and preferred quitting office. Despite ups and downs, Arif's secular ethos remains undiluted. Unfortunately, his credentials and world views are of no use for political parties, who prefer non-secular voice as more rewarding in terms of votes. Don't the current political realities also mirror our responsibility for the two contrasting syndromes of plural Khurshids and singular Arif?

Prof Rakesh Sinha is Hony. Director of India Policy Foundation and can be reached at rakeshsinha46@gmail.com

(This article was published on 02nd March 2014 in the New Indian Express)

<http://www.newindianexpress.com/opinion/Realities-Mirror-Plural-Khurshids-and-One-Arif/2014/03/02/article2085080.ece#.UxWZhOOSxug>



D-51, First Floor, Hauz Khas, New Delhi - 110016
Tel.: 91+11-26524018
Fax: 91+11-46089365
E-mail: indiapolicy@gmail.com
Website: indiapolicyfoundation.org

₹ 10/-